

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

नियमसार गाथा १७०

विगत गाथा में केवली भगवान के संदर्भ में व्यवहारनय के कथन को प्रस्तुत किया गया था। अब इस गाथा में 'जीव ज्ञानस्वरूप है' यह सिद्ध करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।

अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरिच्चं ॥१७०॥

(हरिगीत)

ज्ञान जीवस्वरूप इससे जानता है जीव को।

जीव से हो भिन्न वह यदि नहीं जाने जीव को ॥१७०॥

जीव का स्वरूप ज्ञान है, इसलिए आत्मा आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जाने तो वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इस गाथा में 'जीव ज्ञानस्वरूप है' - इस बात को तर्क की कसौटी पर कसकर सिद्ध किया गया है।

प्रथम तो ज्ञान आत्मा का स्वरूप है; इसकारण जो अखण्ड-अद्वैत स्वभाव में लीन है, निरतिशय परम भावना से सनाथ है, मुक्ति सुन्दरी का नाथ है और बाह्य में जिसने कौतूहल का अभाव किया है; ऐसे निज परमात्मा को कोई भव्य आत्मा जानता है। वस्तुतः यह स्वभाववाद है। इसके विपरीत विचार (वितर्क) विभाववाद है, यह प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय है।

यदि कोई कहे कि यह विपरीत विचार (वितर्क) किसप्रकार है ? तो कहते हैं कि वह इसप्रकार है -

पूर्वोक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा को आत्मा वस्तुतः जानता नहीं है, आत्मा तो मात्र स्वरूप में ही अवस्थित रहता है।

जिसप्रकार उष्णता स्वरूप में स्थित अग्नि को क्या अग्नि जानती है? नहीं

जानती। उसीप्रकार ज्ञान-ज्ञेय संबंधी विकल्प के अभाव के कारण यह आत्मा तो मात्र आत्मा में स्थित रहता है, आत्मा को जानता नहीं है।

शिष्य के उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्राथमिक शिष्य! क्या यह आत्मा अग्नि के समान अचेतन है?

अधिक क्या कहें? यदि उस आत्मा को ज्ञान नहीं जाने तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित कुल्हाड़ी की भाँति अर्थक्रियाकारी^१ सिद्ध नहीं होगा; इसलिए वह ज्ञान, आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा। यह बात अर्थात् ज्ञान और आत्मा की सर्वथा भिन्नता स्वभाववादियों को इष्ट (सम्मत) नहीं है। अतः यही सत्य है कि ज्ञान आत्मा को जानता है।^२

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि जिसप्रकार अग्नि स्वयं को नहीं जानती; परन्तु परपदार्थों को प्रकाशित करती है; उसीप्रकार ज्ञान आत्मा से भिन्न वस्तु है; अतः ज्ञान आत्मा को नहीं जानता।^३”

यहाँ गुण-गुणी की अभेदता की बात है। आत्मा चैतन्य गुण से भरा हुआ है और पुण्य-पाप से रहित ज्ञानस्वभावी है।

जिसप्रकार यदि कोई व्यक्ति कुल्हाड़ी हाथ में न ले तो लकड़ी काटने की क्रिया नहीं हो सकती; उसीप्रकार ज्ञान आत्मा से भिन्न हो तो वह जानने की क्रिया नहीं कर सकता।^३

देवदत्त कुल्हाड़ी द्वारा काट सकता है या नहीं - यहाँ यह सिद्ध नहीं करना है; परन्तु जिसप्रकार कुल्हाड़ी और देवदत्त भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार ज्ञान और आत्मा भिन्न नहीं हैं। यहाँ तो कहते हैं कि जिसप्रकार मनुष्य कुल्हाड़ी पकड़े तो उसके द्वारा काटने की क्रिया होती है; कुल्हाड़ी देवदत्त से भिन्न हो तो काटने की क्रिया नहीं होती। उसीप्रकार आत्मा ज्ञान का पिण्ड है। ज्ञान आत्मा को जानने का काम न करे तो कुल्हाड़ी की तरह आत्मा और ज्ञान भिन्न सिद्ध होते हैं। जिससे गुण-गुणी की एकता सिद्ध नहीं होती और स्वभाववादियों को गुण-गुणी की सर्वथा भिन्नता मान्य नहीं है। अतः यह निर्णय करना चाहिए कि ज्ञान आत्मा को जानता है।

जिसप्रकार अपने घर में रुपया-पैसा हों; पर वे व्यापार में काम न आवें तो उन्हें

१. प्रयोजनभूत क्रिया करने में समर्थ

२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४२३

३. वही, पृष्ठ १४२५

पूँजी नहीं कहा जाता; उसीप्रकार ज्ञान आत्मा की पूँजी है। वह अपने को न जाने तो वह आत्मा पूँजी रहित सिद्ध होता है, अचेतन कहलाता है। इससे आत्मा अचेतन नहीं होता; परन्तु अपनी मान्यता में जड़ हो जाता है अर्थात् ऐसे जीव को धर्म की प्राप्ति नहीं होती।^१”

इस गाथा और उसकी टीका में युक्ति के आधार से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है; अतः वह स्वयं को जानता है। प्राथमिक शिष्य का कहना यह है कि जिसप्रकार अग्नि अपने उष्णतारूप स्वभाव में अवस्थित तो रहती है, पर स्वयं को जानती नहीं है; उसीप्रकार यह आत्मा भी अपने ज्ञानस्वभाव में अवस्थित तो रहता है, पर स्वयं को जानता है। शिष्य को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! आत्मा अग्नि के समान अचेतन नहीं है, आत्मा तो चेतन पदार्थ है। अतः यह अग्नि का उदाहरण घटित नहीं होता।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसप्रकार कुल्हाड़ी रहित देवदत्त लकड़ी को काटने में समर्थ नहीं होता; क्योंकि वह कुल्हाड़ी से भिन्न है; उसीप्रकार स्वयं को जानने में असमर्थ आत्मा भी ज्ञान से भिन्न सिद्ध होगा। यह तो आप जानते ही हैं कि ज्ञान और आत्मा की सर्वथा भिन्नता स्याद्वादी जैनियों को स्वीकृत नहीं है। अतः यही सत्य है कि स्वभाव में अवस्थित आत्मा आत्मा को जानता है, ज्ञान आत्मा को जानता है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज ‘तथा गुणभद्रस्वामी द्वारा भी कहा गया है’ - ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।

तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥८२॥^२

(दोहा)

ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वभावप्राप्ति है इष्ट ।

अतः मुमुक्षु जीव को ज्ञानभावना इष्ट ॥८२॥

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। स्वभाव की प्राप्ति अच्युति (अविनाशी दशा) है। अतः अच्युति को चाहनेवाले जीव को ज्ञान की भावना भानी चाहिए।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है और स्वभाव की प्राप्ति अच्युति

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४२५

२. आत्मानुशासन, छन्द १७४

है; अतः अच्युतदशा को चाहनेवाले ज्ञान की भावना करें।

ज्ञान-स्वभावी आत्मा के अवलंबन से होनेवाला मोक्ष अविनाशी है। पुण्य-पाप नाशवान हैं, वे च्युत अर्थात् आत्मा की भ्रष्ट दशायें हैं। आत्मा अखण्डानन्दस्वरूप है, उसमें एकाग्र होना धर्म है; अतः धर्म के इच्छुक आत्मा में एकाग्र हों तथा पुण्य-पाप से एकाग्रता छोड़ें। यहाँ धर्म का अर्थ सम्यग्दर्शन है।

यहाँ ज्ञान की भावना भाने को कहा अर्थात् शास्त्र की, पर की भावना भाने की बात नहीं की; परन्तु अन्तर में विराजमान अखण्ड ज्ञानस्वभावी गुणी में एकाग्र होने की बात की है।^१

जो क्रिया सिद्धदशा को प्राप्त कराये और नाश न हो - वह क्रिया सच्ची है। पुण्य-पाप अच्युत क्रिया नहीं हैं। दृष्टि में गुण-गुणी की अभेदता करना धर्म की क्रिया है। पर को करने और भोगने की सामर्थ्य आत्मा में नहीं है। पुण्य-पाप की क्रिया से धर्म नहीं होता, धर्म तो अन्तर-भावना के अवलंबन से होता है। स्वभाव में एकाग्रता करना ही धार्मिक क्रिया है। शेष सभी क्रियायें चार गति में भटकाने वाली हैं। अरे रे! जब तक पूर्णदशा प्राप्त नहीं होती, तबतक शुभभाव की क्रिया होती तो है; परन्तु वह धर्म नहीं है। यही सर्वज्ञ कथित मार्ग है भाई!^२

उक्त छन्द का भाव यह है कि ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा को स्वभाव की प्राप्ति, अच्युति अर्थात् अविनाशी दशा है। उक्त अविनाशी दशा की प्राप्ति करने की भावना रखनेवालों का यह परम कर्तव्य है कि वे सदा स्वभाव की प्राप्ति की भावना रखें ॥८२॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्धजीवस्वरूपं
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम्।
तच्च ज्ञानं स्फुटितसहजावस्थयात्मानमारात्
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात् ॥२८६॥

(रोला)

शुद्धजीव तो एकमात्र है ज्ञानस्वरूपी।

अतः आतमा निश्चित जाने निज आत्म को ॥

यदि साधक न जाने स्वात्म को प्रत्यक्ष तो।

ज्ञान सिद्ध हो भिन्न निजात्म से हे भगवन् ॥२८६॥

ज्ञान तो शुद्धजीव का स्वरूप ही है। अतः हमारा आत्मा भी अभी साधक दशा में एक अपने आत्मा को अवश्य जानता है। यदि यह ज्ञान प्रकट हुई सहज दशा द्वारा प्रत्यक्ष रूप से आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से भिन्न ही सिद्ध होगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“साधकदशा में यद्यपि पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं; तथापि उनकी मुख्यता नहीं होती। आत्मा की ही मुख्यता होती है। मुनिराज उपदेश देते हैं, शास्त्र लिखते हैं; परन्तु उनके कर्ता वे नहीं हैं; क्योंकि ये तो जड़ के कार्य हैं और जड़ के कारण से होते हैं। मुनिराज को बोलने का, शास्त्र लिखने का राग आता है; परन्तु उसकी भी उनके मुख्यता नहीं है। वे उस शुभराग को जानते तो हैं; पर निरंतर अन्तर स्वभाव की ही महिमा वर्तती है। इसी का नाम धर्म है। इसप्रकार साधकदशा में निश्चय-व्यवहार दोनों होते हैं। अकेला निश्चय हो तो केवलज्ञान हो जाये और अकेला व्यवहार हो तो मिथ्यादृष्टि होने का प्रसंग आता है। मुनिराज आत्मा को निश्चय से जानते हैं, तब व्यवहार के विकल्प भी होते हैं; परन्तु उनकी मुख्यता नहीं होती; क्योंकि वे राग और व्यवहार को तन्मय होकर नहीं जानते; पर आत्मा को तन्मय होकर जानते हैं।”

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि ज्ञान शुद्ध जीव का स्वरूप है। अतः यह आत्मा साधकदशा में स्वयं को अवश्य जानता है। यदि यह ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा ॥२८६॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज ‘तथा कहा भी है’ - ऐसा लिखकर एक गाथा उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है -

णाणं अविदित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ।

जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो ॥८३॥^१

(दोहा)

ज्ञान अभिन है आत्म से अतः जाने निज आत्म।

भिन्न सिद्ध हो वह यदि न जाने निज आत्म ॥८३॥

ज्ञान जीव से अभिन्न है; इसलिए आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह आत्मा कर्म, शरीरादि से आज भी भिन्न है। आत्मा में पुण्य-पाप होते हैं; पर वे त्रिकालस्वभाव से भिन्न हैं; पर वह स्वभाव ज्ञान से भिन्न नहीं है। अतः ज्ञानी ज्ञान से आत्मा को जानता है। ज्ञान की पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न होती है। वह आत्मा को जानें तो उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं; परन्तु पर के ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते। ज्ञानी को जब तक पूर्णदशा की प्राप्ति नहीं होती; तबतक वह राग को जानता तो है; पर उसकी उसे मुख्यता नहीं होती।

यह बात समझे बिना सच्ची सामायिक भी नहीं होती। सच्ची सामायिक तो मुक्ति प्रदान करती है। यह सामायिक कब होगी ?

आत्मा पर से भिन्न है, पुण्य-पाप विकार हैं, इनसे रहित ज्ञानस्वभावी आत्मा का भान करके अन्तर लीनता होने पर शान्ति और आनन्द की लहरें आना सामायिक है। आत्मा ज्ञान और अमृत का रसकन्द है। उनसे आत्मा भिन्न नहीं है; परन्तु पर से और राग से अत्यन्त भिन्न है। जब ऐसा भान होता है, तब सच्ची सामायिक होती है।

जब भरत चक्रवर्ती लड़ाई करने गये, तब भी उन्हें आत्मा का भान था। उनके १६वें हजार रानियाँ थीं; फिर भी ‘मैं ज्ञान हूँ’ - ऐसा भान उन्हें निरंतर वर्तता था; अतएव उसी भव में मोक्ष गये और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि निरतिचार अट्ठाईस मूलगुण पालते हों, हजारों रानियों और राजपाट छोड़कर दीक्षा ली हो अथवा बालब्रह्मचारी हों; पर शुभराग से धर्म माने तो वे अज्ञानी ही हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि अपने आत्मा में एकाग्रता न हो तो गुण-गुणी की एकता नहीं होती; अतः ज्ञानी जीव आत्मा को जानते हैं।^१”

इस गाथा में भी मात्र इतना ही कहा गया है कि ज्ञान जीव से अभिन्न है; इसलिए वह अपने को जानता है। यदि वह ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा ॥८३॥

नियमसार गाथा १७१

विगत गाथा में ज्ञान को जीव का स्वरूप बताया गया है और अब इस गाथा में आत्मा और ज्ञान को अभेद बताया जा रहा है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

अप्पाणं विणु गाणं गाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।

तम्हा सपरपयासं गाणं तह दंसणं होदि ॥१७१॥

(हरिगीत)

आत्मा है ज्ञान एवं ज्ञान आत्म जानिये।

संदेह न बस इसलिए निजपरप्रकाशक ज्ञान दृग ॥१७१॥

आत्मा को ज्ञान जानो और ज्ञान आत्मा है - ऐसा जानो। इसमें संदेह नहीं है। इसलिए ज्ञान तथा दर्शन स्वपरप्रकाशक हैं।

इस गाथा के भाव को पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“सम्पूर्ण परद्रव्यों से पराङ्गमुख, स्वस्वरूप जानने में समर्थ, सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा को हे शिष्य ! तुम जानो और यह भी जानो कि आत्मा विज्ञानस्वरूप है। ज्ञान और दर्शन - दोनों स्वप्रकाशक हैं। तत्त्व ऐसा ही है, इसमें संदेह नहीं है।”

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“भगवान तीर्थकरदेव की कही हुई बात ही कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि चिदानन्द भगवान आत्मा देहदेवल में ज्ञानरूप से सदा विराजमान है। जो गुण है, वही गुणी है और जो गुणी है, वही गुण है - हे भव्य ! तुम ऐसा जानो। जो गुड़ है, वही मिठास है और जो मिठास है, वही गुड़ है। जो शिष्य ऐसा नहीं जानता है, उसे ऐसा जानने के लिए यहाँ कहा जा रहा है। आत्मा ज्ञानरूप है। पुण्य-पाप आत्मा नहीं हैं। कर्म, शरीरादि तो पर हैं। पुण्य-पाप और आत्मा में अनित्यतादात्म्य संबंध है। ज्ञान और आत्मा नित्यतादात्म्य हैं। आत्मा का शरीर अथवा कर्म के साथ तादात्म्य संबंध नहीं है। इसमें जरा भी संदेह नहीं है। भगवान ने आत्मा और ज्ञान को एकाकार ही बताया है। इसमें शंका नहीं करना चाहिए। ज्ञान पर में एकाकार नहीं है। आत्मा स्व-पर को जाननेवाला चिदानन्द दीपक है।^१

ज्ञानमयी आत्मा होने से वह स्व-पर प्रकाशक है और उसके ज्ञान-दर्शन दोनों गुण भी स्व-पर प्रकाशक हैं। - इसमें संदेह नहीं है।

कुछ लोग ज्ञान पर को ही जानता है और दर्शन स्व को ही देखता है - ऐसा

एकान्त से मानते हैं। यहाँ उनका निराकरण करते हुए कहा है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन से भरा है तथा शरीर व कर्म से भिन्न है; अतः उसकी दृष्टि छोड़ो एवं ज्ञान-दर्शन स्व-पर प्रकाशक हैं - ऐसा निर्णय करो, इसमें जरा भी सन्देह मत करो।^१”

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान, दर्शन और आत्मा तीनों स्व-परप्रकाशक हैं। तीनों अभेद-अखण्ड ही हैं। इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है ॥१७१॥

इसके बाद टीकाकार एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

आत्मानं ज्ञानदृग्रूपं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं ।

स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥२८७॥

(सोरठा)

आत्म दर्शन-ज्ञान दर्श-ज्ञान है आत्मा ।

यह सिद्धान्त महान स्वपरप्रकाशे आत्मा ॥२८७॥

आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूप और ज्ञान-दर्शन को आत्मारूप जानो । स्व और पर - ऐसे तत्त्वों को अर्थात् समस्त पदार्थों को आत्मा स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है ।

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा है कि आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूप और ज्ञान-दर्शन को आत्मारूप जानो । तात्पर्य यह है कि आत्मा तथा ज्ञान और दर्शन - सब एक ही हैं। सभी स्वपरपदार्थों को यह आत्मा भलीभाँति प्रकाशित करता है ॥२८७॥

नियमसार गाथा १७२

विगत गाथा में ज्ञान और आत्मा में अभेद बताया था और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान के इच्छा का अभाव है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।

केवलिणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ॥१७२॥

(हरिगीत)

जानते अर देखते इच्छा सहित वर्तन नहीं ।

बस इसलिए हैं अबंधक अर केवली भगवान वे ॥१७२॥

जानते और देखते हुए भी केवली भगवान के इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता; इसलिए उन्हें केवलज्ञानी कहा है और इसीलिए उन्हें अबंध कहा गया है ।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४३३

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्यप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान के इच्छा का अभाव होता है - यह कहा गया है ।

भगवान अरहंत परमेष्ठी सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले, शुद्धसद्भूत व्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत होने के कारण विश्व को निरन्तर जानते हुए भी और देखते हुए भी, उन परम भट्टारक केवली भगवान को मनप्रवृत्ति का अभाव होने से इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता, इसलिए वे भगवान केवलज्ञानीरूप से प्रसिद्ध हैं और उस कारण से वे भगवान अबन्धक हैं।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“वीतरागदशा तो बारहवें गुणस्थान में ही हो जाती है; अतः भगवान को मोक्ष की इच्छा भी नहीं होती है। जो ऐसा मानता है कि भगवान के इच्छा होती है, वह वीतराग के स्वरूप को नहीं जानता है। भगवान के भावमन (क्षायोपशमिक ज्ञान) नहीं है। उनके हृदय में द्रव्यमन है; परन्तु उसमें इच्छापूर्वक उपयोग का जुड़ान नहीं है। वे अन्य जीवों को दीक्षा, शिक्षा, इच्छापूर्वक नहीं देते। मात्र जानने-देखने का स्वभाव होने से समस्त लोकालोक को जानते और देखते हैं। इच्छा हो तभी जानें - ऐसा नहीं है। उनके योग का कंपन होता है। एक समय में कर्म, नोकर्म आते-जाते हैं। अतः भगवान के बंध नहीं कहा है। योग के कंपन के समय मन निमित्त है; परन्तु भगवान के इच्छा नहीं होती; अतः इसमें मन निमित्त नहीं है। अतः भगवान के बंध नहीं होता।^१

निश्चयनय का विषय तो त्रिकाली स्वभाव है, उसमें से प्रगट होने वाली पूर्ण केवलज्ञानरूपी दशा व्यवहार है। वह शुद्ध और नवीन है; अतः व्यवहार है - ऐसा कहकर केवली के नय होते हैं, यह नहीं सिद्ध कर रहे; क्योंकि केवली के समझने-समझाने का व्यवहार नहीं होता ।

नय तो श्रुतज्ञानी के होते हैं। साधकजीव केवलज्ञानरूप पूर्णदशा को लक्ष में लेता है, वह पूर्णदशा शुद्ध है और अखण्ड आत्मा में शुद्ध पर्याय का भेद किया; अतः वह शुद्धसद्भूत व्यवहार है। निश्चय में एकरूपता होती है। त्रिकाली तत्त्व अभेद एकरूप है; अतः निश्चयनय का विषय है। साधकजीव जब निज स्वभाव का

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४३६

अवलंबन लेता है, तब शुद्धदशा प्रगट होती है। वह व्यवहार का तो ज्ञान करता है; परन्तु आश्रय तो त्रिकाली निश्चयस्वभाव का करता है।

त्रिकाली द्रव्य के लक्ष से जो शुद्धपर्याय प्रगट हुई, वह निश्चयनय का विषय नहीं है, वह व्यवहार का विषय है। ज्ञानी को उसका आश्रय नहीं होता है।^१

इसीप्रकार महावीर भगवान के समोशरण में गौतम आये; अतः उनकी वाणी खिरी - ऐसा नहीं है। भगवान को इच्छा नहीं थी कि मैं गौतम को उपदेश दूँ। भगवान तो तीन काल और तीन लोक की बात को जान ही रहे हैं।^२”

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि यद्यपि केवली भगवान शुद्धसद्भूत व्यवहारनय से अर्थात् अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय से सम्पूर्ण जगत को देखते-जानते हैं; तथापि उनके मन की प्रवृत्ति का अभाव होने से, भाव मन के अभाव होने से इच्छा का अभाव होता है, इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता है; यही कारण है कि सर्वज्ञरूप प्रसिद्ध उन केवली भगवान को बंध नहीं होता।

इच्छा के अभाव में भी उनके द्वारा जो योग का प्रवर्तन होता है, उसके कारण होनेवाले आस्रव और एक समय का प्रदेश बंध होता है; मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण उस बंध में स्थिति और अनुभाग नहीं पड़ने से एक समय में ही उसकी निर्जरा हो जाती है; इसलिए वे अबंधक ही हैं ॥१७२॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज 'तथा प्रवचनसार में भी कहा गया है' - ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है -

ण वि परिणमदि ण गेणहदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्टेसु ।

जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥८४॥^३

(हरिगीत)

सर्वार्थ जाने जीव पर अनरूप न परिणमित हो।

बस इसलिए है अबंधक ना ग्रहे ना उत्पन्न हो ॥८४॥

केवलज्ञानी आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी अनरूप परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न भी नहीं होता; इसलिए उसे अबंधक कहा है।

इस गाथा में यही बात कही गई है कि सर्वज्ञ भगवान सबको जानते हुए भी

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४३७

२. वही, पृष्ठ १४४०

३. प्रवचनसार, गाथा ५२

जानने में आते हुए पदार्थरूप परिणमित नहीं होते, उन्हें ग्रहण नहीं करते और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न नहीं होते; इसलिए उन्हें अनन्त संसार बढानेवाला बंध भी नहीं होता ॥८४॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव 'तथाहि' लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः ।

मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं

ज्ञानज्योतिर्हृतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ॥२८८॥

(हरिगीत)

सहज महिमावंत जिनवर लोक रूपी भवन में।

थित सर्व अर्थों को अरे रे देखते अर जानते ॥

निर्मोहता से सभी को नित ग्रहण करते हैं नहीं।

कलिमल रहित सद्ज्ञान से वे लोक के साक्षी रहें ॥२८८॥

सहज महिमावंत देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव लोकरूपी भवन में स्थित सभी पदार्थों को जानते-देखते हुए भी, मोह के अभाव के कारण किसी भी पदार्थ को कभी भी ग्रहण नहीं करते; परन्तु ज्ञानज्योति द्वारा मलरूप क्लेश के नाशक वे जिनेन्द्रदेव सम्पूर्ण लोक के एकमात्र साक्षी हैं, केवल ज्ञाता-दृष्टा हैं।

इस कलश में यही कहा गया है कि सर्वज्ञ-वीतरागी जिनदेव जगत के सभी पदार्थों को देखते-जानते हैं; फिर भी मोह के अभाव में किसी भी परपदार्थ को ग्रहण नहीं करते। वे तो जगत के एकमात्र साक्षी हैं, सहज ज्ञाता-दृष्टा ही हैं ॥२८८॥

नियमसार गाथा १७३-१७४

विगत गाथा में यह बताया गया था कि केवली भगवान के इच्छा का अभाव है और अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि इच्छा का अभाव होने से उन्हें बंध नहीं होता।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं -

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ ।

परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७३॥

ईहापुव्वं वयणं जीवस्स स बंधकारणं होइ ।

ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

(हरिगीत)

बंध कारण जीव के परिणामपूर्वक वचन हैं।
परिणाम विरहित वचन केवलज्ञानियों को बंध न ॥१७३॥
ईहापूर्वक वचन ही हों बंधकारण जीव को।
ईहा रहित हैं वचन केवलज्ञानियों को बंध न ॥१७४॥

परिणामपूर्वक होनेवाले वचन जीव के बंध के कारण हैं। केवलज्ञानी के परिणाम रहित वचन होता है; इसलिए उन्हें वस्तुतः बंध नहीं होता।

इच्छापूर्वक वचन जीव के बंध के कारण हैं। केवलज्ञानी को इच्छा रहित वचन होने से उन्हें वस्तुतः बंध नहीं है।

ये दोनों गाथायें लगभग एक समान ही हैं। इनमें परस्पर मात्र इतना ही अन्तर है कि प्रथम गाथा में प्राप्त परिणामपूर्वक वचन के स्थान पर दूसरी गाथा में ईहापूर्वक वचन कर दिया गया है। भाव दोनों का समान ही है।

इन गाथाओं के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ वस्तुतः केवलज्ञानी को बंध नहीं होता - यह कहा गया है।

सम्यग्ज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी जीव कभी भी स्वबुद्धिपूर्वक अर्थात् स्वमन परिणामपूर्वक वचन नहीं बोलते; क्योंकि केवली भगवान अमनस्क (मन रहित) होते हैं - ऐसा शास्त्र का वचन है। इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि जीवों के मनपरिणतिपूर्वक होनेवाले वचन बंध का कारण होते हैं - ऐसा अर्थ है। केवली भगवान के मनपरिणतिपूर्वक वचन नहीं होते।

इसीप्रकार इच्छा सहित जीव को इच्छापूर्वक होनेवाले वचन भी बंध के कारण होते हैं। समस्त लोग हृदयकमल के आह्लाद के कारणभूत, केवली भगवान के मुखारबिन्द से निकली हुई दिव्यध्वनि तो इच्छा रहित है; अतः केवलज्ञानी को बंध नहीं होता।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं और उसकी टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यद्यपि ऐसा कहा है कि दिव्यध्वनि केवली के मुखकमल से निकलती है; परन्तु वास्तव में तो भगवान के होंठ हिले बिना, इच्छा बिना सम्पूर्ण शरीर से दिव्यध्वनि निकलती है। यह दिव्यध्वनि सभी जीवों को आनन्द देनेवाली कही गई है; फिर भी जो जीव स्वयं अपनी पर्याय में भेदज्ञान करते हैं, उनको वाणी निमित्त

होती है। चूंकि मिथ्यादृष्टि जीव को भेदज्ञान नहीं होता है; अतः उसे दिव्यध्वनि निमित्त भी नहीं है; तथापि दिव्यध्वनि को समस्त लोगों को आनन्ददायिनी कहा जाता है।^१

यहाँ कहा जा रहा है कि मन परिणति केवली के नहीं है; अतः उन्हें बंध भी नहीं होता। ‘मन नहीं होने से बंध नहीं होता है’ - ऐसा कहना गलत है; क्योंकि मन तो एकेन्द्रिय जीव के भी नहीं होता; अतः उसे भी बंध नहीं होना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं है। वहाँ भाव परिणति क्षायोपशम पर्याय तो है ही। उसकी क्षायोपशमिक पर्याय में शरीरादि की एकत्वबुद्धि के परिणाम हैं; अतः वहाँ बंध भी होता है। चिदानन्द के ज्ञानपूर्वक स्वरूपलीन परिणति जिसे प्रगट होती है; उसे राग नहीं होने से बंध नहीं होता।”^२

इन दोनों गाथाओं और उनकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि परिणामपूर्वक और इच्छापूर्वक वचन बंध के कारण होते हैं। केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि परिणाम रहित और इच्छा रहित होने के कारण उन्हें बंध नहीं होता ॥१७३-१७४॥

इन गाथाओं की टीका लिखने के उपरान्त टीकाकार मुनिराज तीन छन्द लिखते हैं, जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

ईहापूर्व वचनरचनारूपमत्रास्ति नैव
तस्मादेषः प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता।
अस्मिन् बंधः कथमिव भवेद् द्रव्यभावात्मकोऽयं
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागरोषादिजालम् ॥२८९॥

(हरिगीत)

ईहापूर्वक वचनरचनारूप न बस इसलिए।
प्रकट महिमावंत जिन सब लोक के भरतार हैं।
निर्मोहता से उन्हें पूरण राग-द्वेषाभाव है।
द्रव्य एवं भावमय कुछ बंध होगा किस तरह? ॥२८९॥

केवली भगवान के इच्छापूर्वक वचनों का अभाव होने से वे प्रगट महिमावंत हैं, समस्त लोक के एकमात्र नाथ हैं। मोह के अभाव के कारण समस्त राग-द्वेष के जाल का अभाव होने से उन्हें द्रव्यबंध और भावबंध कैसे हो सकते हैं? तात्पर्य यह है कि न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६३९

२. वही, पृष्ठ ६४०

तो मोह-राग-द्वेषरूप भावबंध होता है और न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का बंध होता है।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“केवली भगवान के इच्छा नहीं है; अतः वे महिमावन्त हैं। जहाँ तक इच्छा होती है; वहाँ तक आत्मा पूर्ण महिमावन्त नहीं होता। वीतरागता-विज्ञानता की ही पूर्ण महिमा है। भगवान लोक के नाथ हैं। जो जीव सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ करता है, उसे भगवान निमित्त हैं; अतः वे उसके नाथ कहलाते हैं। वे मिथ्यादृष्टि के नाथ नहीं हैं; परन्तु उपचार से सभी के नाथ कहलाते हैं। ऐसे केवली के मोह का नाश होने से उन्हें द्रव्यबंध और भावबंध नहीं होता।”

उक्त छन्द में भी यही कहा गया है कि प्रकट महिमावन्त, समस्त लोक के एकमात्र नाथ केवली भगवान के इच्छापूर्वक वचनों का अभाव है। मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण उन केवली भगवान को न तो द्रव्यबंध होता है और न भावबंध होता है ॥२८९॥

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

एको देवस्त्रिभुवनगुरुर्नष्टकर्माष्टकार्थः
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम् ।
आरातीये भगवति जिने नैव बंधो न मोक्षः
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च ॥२९०॥

(हरिगीत)

अरे जिनके ज्ञान में सब अर्थ हों त्रयलोक के ।
त्रयलोकगुरु चतुर्कर्मनाशक देव हैं त्रयलोक के ॥
न बंध है न मोक्ष है न मूर्छा न चेतना ।
वे नित्य निज सामान्य में ही पूर्णतः लवलीन हैं ॥२९०॥

जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश किया है, जो तीन लोक के गुरु हैं, समस्त लोक और उसमें स्थित पदार्थ समूह जिनके ज्ञान में स्थित हैं; वे जिनेन्द्र भगवान एक ही देव हैं, अन्य कोई नहीं। उन्हें न बंध है, न मोक्ष है, उनमें न तो कोई मूर्च्छा है, न चेतना; क्योंकि उनके द्रव्य सामान्य का आश्रय है। (क्रमशः)